प्रसंग

शिक्षक–संगठनों की प्रासंगिकता पर लगते प्रश्न चिन्ह

❑ सुरेश पंडित

शिक्षक और शिक्षक-संगठन इधर राज्य और समाज द्वारा लगातार आलोचना के पात्र रहे हैं । शिक्षक जो कि विद्यालय-प्रणाली की धुरी है, शिक्षा के नीतिगत मामलों में राज्य द्वारा उपेक्षित रहे हैं । शिक्षक संगठनों की सक्रियता भी अर्थवाद के दायरे का अतिक्रमण नहीं करती, वे शिक्षकों के वेतन भत्तों जैसी मांगों से आगे नहीं जाते । समाज के प्रति न तो शिक्षक और न ही उनके संगठन जबावदेही अनुभव करते हैं । इस स्थिति ने शिक्षा के निजीकरण को औचित्य प्रदान किया है । क्या शिक्षक और उनके संगठन अपनी कार्य-संस्कृति और शैली को बदलने जा रहे हैं ?

अब प्राय: यह बात साफ हो चुकी है कि आर्थिक उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण के प्रति सभी राजनीतिक दलों का रवैया एक-सा है । इसके मुखर विरोधी सत्ता में आते ही इसके समर्थक बन गए हैं, इसलिए अब इसके प्रभाव शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज कल्याण, कृषि, उद्योग आदि क्षेत्रों पर स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं । जहां तक बुनियादी शिक्षा का सवाल है, इसमें भी सरकारी उद्यम की अपेक्षा निजी पूंजी-निवेश पर जोर दिया जाने लगा है । यह मान्यता अब प्रबल हो गई है कि निजीकरण से समाज को जितना लाभ होता है, उतना सरकारीकरण से नहीं होता । इससे निजी शिक्षण संस्थाओं का नेटवर्क न केवल फैल रहा है वरन् सरकारी शिक्षण संस्थाओं की तुलना में उन्हें बेहतर भी साबित किया जा रहा है।

यह संस्थायें कितनी अच्छी हैं, यह बहस का विषय हो सकता है । लेकिन क्यों अच्छी हैं, इसका पता लगाने में विशेष कठिनाई नहीं आ सकती । आश्चर्य है दोनों अर्थात् सरकारी और निजी संस्थाओं के प्रदर्शन की जब तुलना होती है तो अध्यापक ही वह प्रमुख कारक होता है जो एक को बुरी और दूसरी को अच्छी बना देता है। संस्थाओं के परिवेश, प्रबंधन, संसाधन, शिक्षण-शुल्क एवं अभिभावकों की सामाजिक आर्थिक स्थिति के अन्तर को पूरी तरह से नजर अन्दाज कर दिया जाता है । अध्यापक को बुरा भला कहा जाता है और वह चुपचाप सुन लेता है । प्रतिरोध प्राय: नहीं करता, क्योंकि उसका अपना संगठन वेतन वृद्धि, सेवा शर्तों में सुधार और अन्य सुविधायें पाने के लिए तो सरकार से लड़ता रहता है, लेकिन समाज, प्रशासन और राजनीति में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लेने वाले व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली अपनी निन्दात्मक आलोचना का एकजुट हो जवाब नहीं दे पाता। कई बार तो यहां तक देखा गया है कि इन संगठनों के अधिवेशन में आए मुख्य अतिथि ही इन्हें बुरा भला कह जाते हैं और ये निर्विकार भाव से सुनते रहते हैं अथवा क्षीण-सा विरोध प्रकट कर देते हैं ।

यह बात नही है कि शिक्षक संघ गलत बातों का विरोध ही नहीं करते । पूर्व में प्रारंभिक शिक्षा को पंचायत राज संस्थाओं के नियंत्रण में देने के सरकारी फैसले का इन्होंने विरोध किया और सरकार को अपना यह निर्णय वापिस लेने के लिए बाध्य कर दिया। लेकिन अपनी स्थिति ऊपर उठाने और पाठ्क्रम, पाठ्यचर्या के निर्माण और परीक्षा व स्कूल प्रबन्धन में उनकी जितनी महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए, इसे पाने के लिए शिक्षकों के संगठन विशेष जोर नहीं दे रहे हैं । उनकी यह उदासीनता आश्चर्यजनक है । देश में इस समय प्रारंभिक शिक्षा के क्षेत्र में ही लगभग तीस लाख अध्यापक कार्यरत हैं । पुनरावर्ती बजट का लगभग 95 प्रतिशत भाग उनके वेतन पर खर्च होता है । फिर भी शिक्षा के नीति-निर्धारण अथवा पाठ्यक्रम निर्माण में उनकी कोई सक्रिय भागीदारी नहीं है । इसके दो कारण हो सकते हैं, या तो सरकार इन्हें इस योग्य नहीं समझती या ये स्वयं सामर्थ्य विहीन है ।

भारत में प्राथमिक शिक्षा पर जारी 1997 की विश्व बैंक रिपोर्ट स्पष्ट करती है कि भारत में प्राथमिक शिक्षा के लिए सबसे बड़ी चुनौती शिक्षकों के स्तर को समुन्नत करने की है । उसका मानना है कि अध्यापक अपने विषय के अच्छे जानकार नहीं हैं, उनकी पढ़ाने की विधि अधुनातन नहीं है, उनमें काम के प्रति निष्ठा की कमी है, उनके काम का परिवेश उपयुक्त नहीं है, आगे बढ़ने के अवसर कम हैं और समाज में उनकी हैसियत निम्न है ।

दरअसल प्राथमिक विद्यालयों में शैक्षिक स्तर की गिरावट की समस्या काफी जटिल है, और शिक्षक समुदाय में भी तरह-तरह की भिन्नतायें हैं । फिर भी अध्यापक एक ऐसा महत्वपूर्ण कारक अवश्य है, जिससे शैक्षिक स्तर प्रभावित होता है । स्कूल में अध्यापक ही तो छात्रों तक ज्ञान या सूचना पहुंचाने का माध्यम होता है, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि बहुत से गांव/ढाणियों में तो वही वास्तव में स्कूल का पर्याय होता है । वह जहां बैठकर बच्चों को

न्यूनतम संसाधनों से पढ़ाना शुरू करता है, वहीं स्कूल आकार लेने लग जाता है । तभी यह सवाल उठता है कि क्या वह इतनी योग्यता रखता है कि बच्चों को पढ़ा सके या क्या वह अपने कार्य के प्रति इतनी निष्ठा रखता है कि हर दशा में छात्रों को शिक्षा-प्रदान कर सके? और तब शैक्षिक प्रशासकों और समाज के इतर लोगों के वे अभिमत सामने आते हैं जो प्राय: शिक्षकों की कमजोरियों को उजागर करने वाले होते हैं । उनके ये अभिमत अतिरंजित होने के बावजूद सच भी हो सकते हैं । लेकिन कष्ट तब अधिक गहराता है, जब कुछ शिक्षकों की इन कमजोरियों का बखान करते हुए ये लोग सारे शिक्षक समुदाय को अयोग्य व नाकारा घोषित कर देते हैं। जबकि बात कुछ उल्टी भी हो सकती है । इनके द्वारा उद्धृत

दुर्बलताओं वाले शिक्षकों की संख्या निश्चय ही योग्य व कार्य कुशल अध्यापकों से कम होती है, यदि ऐसा न होता तो स्कूली शिक्षा व्यवस्था कभी की धराशायी हो जाती तथा स्थानीय व माध्यमिक शिक्षा बोर्डों की परीक्षाओं में विशेष योग्यता (मेरिट) लेकर पास होने वाले छात्र और उनके अभिभावक इन उपलब्धियों का श्रेय कभी स्कूलों या शिक्षकों को नहीं देते । लेकिन उन्हें उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर शिक्षक समुदाय को अच्छा बताने की कोशिश कभी नहीं की जाती । ऐसे हालत में ही हमें शिक्षक संघों की निष्क्रिय भूमिका अधिक कष्ट देती है ।

जहां तक शिक्षकों के अपने सामर्थ्य का सवाल है कि वे शिक्षा नीति-निर्माण की प्रक्रिया में सहभागी हो सकते हैं अथवा नहीं, हमें थोड़ा-सा पिछले शैक्षिक इतिहास पर ध्यान देना होगा । अंग्रेजों के शासन काल से ही हमारी सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा का दायित्व राज्य का रहा है । वही स्कूल खोलता है और शिक्षकों को नियुक्ति देता है तथा शिक्षा पर होने वाले अधिकतर खर्च को वहन करता है । इसके अलावा वही अध्यापकों के स्थानान्तरण, पदोन्नति एवं उनके कार्य का मूल्यांकन करता है । उसकी नजर में अध्यापक मात्र एक कर्मचारी है । सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रो. कृष्ण कुमार उसे 'मीक डिक्टेटर' अर्थात दब्बू अधिनायक का विशेषण प्रदान करते हैं । वह कक्षा कक्ष में तो सर्वशाक्तिमान होता है लेकिन कक्षा या स्कूल से बाहर उसे निरीह, शक्तिहीन बनकर रहना होता है । ऐसी स्थिति में भला वह कैसे आत्मविश्वासी बना रह सकता है। और शिक्षा का सर्वोच्च प्रबंधन उसे नीतिगत मामलों में अपनी राय देने के लिए कैसे आमंत्रित कर सकता है ?

शिक्षक को सरकारी कर्मचारी या बौद्धिक श्रमिक बना देने के बाद, जाहिर है उसे अपने अधिकारों की सुरक्षा तथा सुविधाओं में वृद्धि करवाने के लिए संगठन बनाने की छूट तो मिल सकती है, नीति-निर्माण तथा प्रशासनिक निर्णय लेने की नहीं । आश्चर्य है कि मजदूरों या अन्य सरकारी कर्मचारियों के समकक्ष रखकर भी उसके काम अर्थात् शिक्षण को पवित्र नैतिक कार्य माना जाता है। उसके व्यवसाय को उत्तम तथा स्वयं उसे राष्ट्र-निर्माता अथवा बालकों का भाग्य-निर्माता माना जाता है और उससे समाज में व्याप्त बुराइयों

से परे रहने और भावी पीढ़ी को उनसे मुक्त रखने की अपेक्षा की जाती है। ऐसी स्थिति में शिक्षक-संगठनों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे राज्य से निर्णायक वार्ता कर यह अवश्य तय करें कि उनका काम सामान्य श्रमिक का काम है या एक पवित्र नैतिक कर्तव्य मिशन है। सचाई यह भी है कि राज्य शिक्षकों को संगठित होने नहीं देना चाहता । सरकार के सदस्य व प्रशासन में बैठे लोग इस कोशिश में लगे रहते हैं कि शिक्षक संगठनों के टुकड़े होते रहें और उसमें सरकार समर्थकों का वर्चस्व बना रहे । वे अपने संघों के प्रतिनिधियों को नीति निर्धारक समितियों में बुलाकर अपने हित में फैसले करवाते रहते हैं और दिखावा यह करते हैं कि उनकी सारी प्रक्रियाएं जनतांत्रिक होती है। यदि संगठन मजबूत हो जाते हैं तो निश्चय ही शिक्षा मंत्रियों, विधायकों, नौकरशाहों और बिचौलियों की पूछ कम हो जाती है और वे अपनी मनमानी करने के काबिल रहीं रह जाते हैं। राजनेता अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए शिक्षक संगठनों को तो सशक्त व प्रभावी बनने ही नहीं देते, शिक्षकों एवं उनके कामों को भी विशेष महत्व नहीं देते । प्रत्येक राजनैतिक दल जब सत्ता में नहीं रहता, तब शिक्षकों की एक स्थानान्तरण नीति बनाने पर जोर देता है लेकिन जब राज सिंहासन पर बैठ जाता है तो अपनी बात को भूल कर मनमानी पर उतर आता है क्योंकि वह जानता है कि नीति बना देने का मतलब है, अपना महत्व खो देना।

शिक्षा के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति ने 1992 में अपनी संशोधित रिपोर्ट में विकेंन्द्रीकरण पर विशेष बल दिया है। यह शायद स्कूलों को पंचायती-राज संस्थाओं को देकर व्यापक विरोध के सामने झुकते हुए वापिस ले लेने की प्रक्रिया को पुन: उलटने की योजना का ही एक अंग है । 1986 की शिक्षा नीति साफ-साफ यह बात स्वीकार कर चुकी है कि गांव-गांव फैली शिक्षण संस्थाओं के नेटवर्क को जिला या प्रखंड स्तर पर बैठकर नहीं सम्हाला जा सकता । इसलिए उन पर स्थानीय नियंत्रण की आवश्यकता है ।

यह काम पंचायतें ही कर सकती है । पर वे स्वयं राजनीति का अखाड़ा बनी हुई हैं । उनमें कई अंगूठा छाप सरपंच व प्रधान बैठे हुए हैं । उनके नियंत्रण में स्कूलों को देकर भी क्या शिक्षा का भला किया जा सकता है ? इस तथ्य को क्रियान्वयन समिति की बैठकों में अधिक जोरदार ढंग से रखा जा सकता था, बशर्ते वहां शिक्षक संघों के प्रतिनिधियों की भी उपस्थिति सुनिश्चित कर ली जाती ।

शिक्षक-संगठनों को अब यह मांग पूरी ताकत से रखनी चाहिए कि यदि सचमुच राज्य शिक्षा व्यवस्था को विकेंद्रित करना चाहता है तो राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के निर्देशानुसार प्रत्येक ग्राम पंचायत स्तर पर ग्राम शिक्षा समिति बनाए और उसे शिक्षकों की उपस्थिति पर नजर रखने के अलावा स्कूल की कठिनाइयां दूर करने और स्कूल के विकास के लिए उचित कदम उठाने का दायित्व भी सौंपे। आज स्थिति यह है कि प्रारंभिक शिक्षा की नीति निर्धारण, पाठ्यक्रम निर्माण, परीक्षा-व्यवस्था, पदोन्नति एवं स्थानान्तरण आदि का काम तो नौकरशाही करती है, शिक्षकों पर निगरानी रखने और स्कूल का विकास करने की अपेक्षा पंचायतों से की जाती है ।

स्थानीय समुदाय का शिक्षक एक अंग तो बन सकता है, उसकी मातहती नहीं कर सकता । इसके साथ उन्हें न्यूनतम अधिगम स्तर निर्धारण, पाठ्यपुस्तक लेखन समीक्षा एवं अनुमोदन, नवाचारों की उपयोगिता के आकलन तथा परीक्षा-सुधार जैसे कार्यक्रमों में भी सहभागी बनाया जाए ।

शिक्षक संगठन आगे बढ़कर शिक्षा के सार्वजनीकरण तथा संपूर्ण साक्षरता अभियान का दायित्व भी अपने कन्धों पर ले सकते हैं । वे गांवों, कस्बों और शहरों में सर्वे कर ऐसे बच्चों की सूची बना सकते हैं, जो स्कूल जाने योग्य हैं और उनके अभिभावकों से आग्रह कर सकते हैं कि वे अपने बच्चों को स्कूल भेजें । संगठनों की महिला पदाधिकारी अभिभावकों से यह मांग कर सकती हैं कि वे अपनी बच्चियों को स्कूल अवश्य भेजें । और भी तरीके हो सकते हैं, इनसे संघ न केवल आम लोगों तक पहुंच सकते हैं, बल्कि उनकी सहानुभुति भी बटोर सकते हैं । ऐसे कामों को अपने हाथों में लेकर वे यह दबाव भी बना सकते हैं कि उनके सदस्यों को जनगणना, पशुगणना, आर्थिक सर्वे, परिवार कल्याण आदि कामों में न लगाया जाये। इसमें जनता का भी सहयोग उनके साथ हो सकता है । रही बात अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण आदि आयोजित करने की, सो इसके लिए भी सरकार पर दबाव डाला जा सकता है कि वे अपने प्रशिक्षण आदि आयोजित करेंगे । सरकार उन पर आने वाले खर्चों की भरपाई मात्र करेगी । आखिर वह स्वयं सेवी संस्थाओं को भी तो ऐसे कामों के लिए अनुदान देती है ।

अब समय आ गया है, जब शिक्षक संगठनों को बदलते समय के अनुरूप स्वयं को ढालने और नई चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए स्वयं को समर्थ बनाने की कोशिश करनी चाहिए । उनकी भूमिका तभी कारगर हो सकती है, जब वे शिक्षकों की व्यावसायिक योग्यता में वृद्धि करने, उनके स्थान को समाज में समुन्नत करने तथा उनके अधिकारों की सुरक्षा एवं सेवा सुविधाओं में विस्तार हेतु निरन्तर प्रयत्नशील एवं संघर्षरत रहें । ◆